।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अध्याय तीन में अर्जुन ने प्रश्न रखा था कि - भगवन्! जब ज्ञानयोग आपको श्रेष्ठ मान्य है तो आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग कुछ सरल प्रतीत हुआ लगता है; क्योंकि ज्ञानयोग में हारने पर देवत्व और विजय में महामहिम स्थिति, दोनों ही दशाओं में लाभ ही लाभ प्रतीत हुआ। किन्तु अब तक अर्जुन ने भली प्रकार समझ लिया था कि दोनों ही मार्गों में कर्म तो करना ही पड़ेगा (योगेश्वर उसे संशयरहित होकर तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण लेने के लिए भी प्रेरित करते हैं; क्योंकि समझने के लिये वही एक स्थान है।) अतः दोनों मार्गों में से एक चुनने से पूर्व उसने निवेदन किया-

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे श्रीकृष्ण! आप कभी संन्यास-माध्यम से किये जानेवाले कर्म की और कभी निष्काम दृष्टि से किये जानेवाले कर्म की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से एक जो भली प्रकार आपका निश्चय किया हुआ हो, जो परमकल्याणकारी हो, उसे मेरे लिये कहिये। कहीं जाने के लिये आपको दो मार्ग बताये जायँ, तो आप सुविधाजनक मार्ग अवश्य पूछेंगे। यदि नहीं पूछते, तो आप जानेवाले नहीं हैं। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अर्जुन! संन्यास-माध्यम से किया जानेवाला कर्म अर्थात् ज्ञानमार्ग से किया जानेवाला कर्म और **'कर्मयोगः'**- निष्काम भावना से किये जानेवाला कर्म - ये दोनों ही परमश्रेय को दिलानेवाले हैं; परन्तु इन दोनों मार्गों से संन्यास अथवा ज्ञानदृष्टि से किये जाने वाले कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। प्रश्न स्वाभाविक है कि श्रेष्ठ क्यों है?

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

महाबाहु अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी की आकांक्षा करता है, वह सदैव संन्यासी ही समझने योग्य है। चाहे वह ज्ञानमार्ग से या निष्काम कर्ममार्ग से ही क्यों न हो। राग, द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित वह पुरुष सुखपूर्वक भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

निष्काम कर्मयोग तथा ज्ञानयोग इन दोनों को वही अलग-अलग बताते हैं, जिनकी समझ इस पथ में अभी बहुत हल्की है न कि पूर्ण ज्ञाता पण्डित लोग; क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। दोनों का फल एक है, इसलिए दोनों एक ही समान हैं।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

जहाँ सांख्य-दृष्टि से कर्म करनेवाला पहुँचता है, वहीं निष्काम-माध्यम से कर्म करनेवाला भी पहुँचता है। इसलिए जो दोनों को फल की दृष्टि से एक देखता है, वही यथार्थ जाननेवाला है। जब दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं तो निष्काम कर्मयोग विशेष क्यों? श्रीकृष्ण बताते हैं-

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना **'संन्यासः'**- अर्थात् सर्वस्व का न्यास प्राप्त होना दुःखप्रद है। जब योग का आचरण प्रारम्भ ही नहीं किया तो असम्भव-सा है। इसलिए भगवत्स्वरूप का मनन करनेवाला

मुनि, जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ मौन हैं, निष्काम कर्मयोग का आचरण करके परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि ज्ञानयोग में निष्काम कर्मयोग का ही आचरण करना पड़ेगा; क्योंकि क्रिया दोनों में एक ही है- वही यज्ञ की क्रिया, जिसका शुद्ध अर्थ है 'आराधना'। दोनों मार्गों में अन्तर केवल कर्त्ता के दृष्टिकोण का है। एक अपनी शक्ति को समझकर हानि-लाभ देखते हुए इसी कर्म में प्रवृत्त होता है और दूसरा निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर इसी क्रिया में प्रवृत्त होता है। उदाहरणार्थ, एक प्राइवेट पढ़ता है दूसरा नॉमिनेट। दोनों का पाठ्यक्रम एक ही है, परीक्षा एक है, परीक्षक-निरीक्षक दोनों में एक ही हैं। ठीक इसी प्रकार दोनों के सद्‌गुरु तत्त्वदर्शी हैं और डिग्री एक ही है। केवल दोनों के पढ़ने का दृष्टिकोण भिन्न है। हाँ, संस्थागत छात्र को सुविधाएँ अधिक रहती हैं।

पीछे श्रीकृष्ण ने कहा कि काम और क्रोध दुर्जय शत्रु हैं, अर्जुन! इन्हें तू मार। अर्जुन को लगा कि यह तो बड़ा कठिन है; किन्तु श्रीकृष्ण ने कहा - नहीं, शरीर से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे तुम्हारा स्वरूप है। तुम वहाँ से प्रेरित हो। इस प्रकार अपनी हस्ती समझकर, अपनी शक्ति को सामने रखकर, स्वावलम्बी होकर कर्म में प्रवृत्त होना 'ज्ञानयोग' है। श्रीकृष्ण ने कहा था, चित्त को ध्यानस्थ करते हुए, कर्मों को मुझमें समर्पण करके आशा, ममता और सन्तापरहित होकर युद्ध कर। समर्पण के साथ इष्ट पर निर्भर होकर उसी कर्म में प्रवृत्त होना निष्काम कर्मयोग है। दोनों की क्रिया एक है और परिणाम भी एक है।

इसी पर बल देकर योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं कि योग का आचरण किये बिना संन्यास अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के अन्त की स्थिति का प्राप्त होना असम्भव है। श्रीकृष्ण के अनुसार ऐसा कोई योग नहीं है कि हाथ पर हाथ रखकर बैठे-बैठे कहें कि- "मैं परमात्मा हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरे लिये न तो कर्म है, न बन्धन। मैं भला-बुरा कुछ करता दिखाई पड़ता भी हूँ, तो इन्द्रियाँ अपने अर्थों में बरत रही हैं।" ऐसा पाखण्ड श्रीकृष्ण के शब्दों में कदापि नहीं है। साक्षात् योगेश्वर भी अपने अनन्य सखा अर्जुन को बिना कर्म के यह स्थिति नहीं दे सके। यदि ऐसा वे कर सकते तो गीता की

आवश्यकता ही क्या थी? कर्म तो करना ही पड़ेगा। कर्म करके ही संन्यास की स्थिति को पाया जा सकता है और योगयुक्त पुरुष शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। योगयुक्त पुरुष के लक्षण क्या हैं? इस पर कहते हैं-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

'विजितात्मा'- विशेष रूप से जीता हुआ है शरीर जिसका, **'जितेन्द्रियः'**- जीती हुई हैं इन्द्रियाँ जिसकी और **'विशुद्धात्मा'**- विशेष रूप से शुद्ध है अन्तःकरण जिसका, ऐसा पुरुष **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'**- सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के आत्मा के मूल उद्‌गम परमात्मा से एकीभाव हुआ योग से युक्त है। वह कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता। तो करता क्यों है? पीछेवालों में परमकल्याणकारी बीज का संग्रह करने के लिये। लिप्त क्यों नहीं होता? क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों का जो मूल उद्‌गम है, जिसका नाम परमतत्त्व है उस तत्त्व में वह स्थित हो गया। आगे कोई वस्तु नहीं जिसकी शोध करे। पीछेवाली वस्तुएँ छोटी पड़ गईं, तो भला आसक्ति किसमें करे? इसलिये वह कर्मों से आवृत्त नहीं होता। यह योगयुक्त की पराकाष्ठा का चित्रण है। पुनः योगयुक्त पुरुष की रहनी स्पष्ट करते हैं कि वह करते हुए भी उससे लिप्त क्यों नहीं होता?-

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

परमतत्त्व परमात्मा को साक्षात्कारसहित जाननेवाले योगयुक्त पुरुष की यह मनःस्थिति अर्थात् अनुभूति है कि मैं किंचित् मात्र भी कुछ नहीं करता हूँ। यह उसकी कल्पना नहीं, बल्कि यह स्थिति उसने कर्म करके पायी है। यथा **'युक्तो मन्येत'**- अब प्राप्ति के पश्चात् वह सब कुछ देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता, सूँघता, भोजन करता, गमन करता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता, आँखों को खोलता और मींचता हुआ भी 'इन्द्रियाँ अपने अर्थों में बरतती हैं' - ऐसी धारणावाला होता है। परमात्मा से बढ़कर कुछ है ही नहीं और जब उसमें वह स्थित ही है, तो

उससे बढ़कर किस सुख की कामना से वह किसी का स्पर्श इत्यादि करेगा? यदि कोई श्रेष्ठ वस्तु आगे होती तो आसक्ति अवश्य रहती। किन्तु प्राप्ति के बाद अब और आगे जायेगा कहाँ और पीछे त्यागेगा क्या? इसलिए योगयुक्त पुरुष लिप्त नहीं होता। इसी को एक उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

कमल कीचड़ में होता है। उसका पत्ता पानी के ऊपर तैरता है। लहरें रात-दिन उसके ऊपर से गुजरती हैं, किन्तु आप पत्ते को देखें, सूखा मिलेगा। जल की एक बूँद भी उस पर टिक नहीं पाती। कीचड़ और जल में रहते हुए भी वह उनसे लिप्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार, जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में विलय करके (साक्षात्कार के साथ ही कर्मों का विलय होता है, इससे पूर्व नहीं), आसक्ति को त्याग करके (अब आगे कोई वस्तु नहीं, अतः आसक्ति नहीं रहती, इसलिए आसक्ति त्यागकर) कर्म करता है, वह भी इसी प्रकार लिप्त नहीं होता। फिर वह करता क्यों है? आपलोगों के लिए, समाज के कल्याण-साधन के लिए, पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए। इसी पर बल देते हैं-

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

योगीजन केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। जब कर्म ब्रह्म में विलीन हो चुके तो क्या अब भी आत्मा अशुद्ध ही है? नहीं, वे 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' हो चुके हैं। सम्पूर्ण प्राणियों में वे अपनी ही आत्मा का प्रसार पाते हैं। उन समस्त आत्माओं की शुद्धि के लिए, आप सबका मार्गदर्शन करने के लिए वे कर्म में बरतते हैं। शरीर, मन, बुद्धि तथा केवल इन्द्रियों से वह कर्म करता है, स्वरूप से वह कुछ भी नहीं करता, स्थिर है। बाहर से वह सक्रिय दिखाई देता है; किन्तु भीतर उसमें असीम शान्ति है। रस्सी जल चुकी, मात्र ऐंठन (आकार) शेष है, जिससे बँध नहीं सकता।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

'योगयुक्त' अर्थात् योग के परिणाम को प्राप्त पुरुष, जो सब प्राणियों के आत्मा के मूल परमात्मा में स्थित है, ऐसा योगी कर्म के फल को त्यागकर (कर्मों का फल परमात्मा उससे भिन्न नहीं है इसलिए अब कर्मफल को त्यागकर) **'नैष्ठिकीम् शान्तिम् आप्नोति'**– शान्ति की अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है, जिसके आगे कोई शान्ति शेष नहीं है, जिसके पश्चात् वह कभी अशान्त नहीं होता। किन्तु अयुक्त पुरुष, जो योग के परिणाम से युक्त नहीं है, अभी रास्ते में है, ऐसा पुरुष फल में आसक्त हुआ (फल है परमात्मा, उसमें उसका आसक्त होना आवश्यक है। इसलिए फल में आसक्त होने पर भी) **'कामकारेण निबध्यते'**– कामना करके बँध जाता है अर्थात् पूर्तिपर्यन्त कामनाएँ जागृत होती हैं, अतः साधक को पूर्तिपर्यन्त सावधान रहना चाहिए। 'महाराज जी' कहा करें – ''हो! तनिकौ हम अलग, भगवान अलग हैं तो माया कामयाब हो सकती है।'' कल ही प्राप्ति होनी हो किन्तु आज तो वह अज्ञानी ही है। अतः पूर्तिपर्यन्त साधक को असावधान नहीं होना चाहिए। इसी पर आगे देखें–

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

जो सम्पूर्ण रूप से स्ववश है, जो शरीर, मन, बुद्धि और प्रकृति से परे स्वयं में स्थित है, ऐसा वशी पुरुष निःसन्देह न कुछ करता है न कराता है। पीछेवालों से कराना भी उसकी आन्तरिक शान्ति का स्पर्श नहीं कर पाता। ऐसा स्वरूपस्थ पुरुष शब्दादि विषयों को उपलब्ध करानेवाले नौ द्वारों (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका छिद्र, एक मुख, उपस्थ एवं पायु) वाले शरीररूपी घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर स्वरूपानन्द में ही स्थित रहता है। यथार्थतः वह न कुछ करता है और न कराता है।

इसी को पुनः श्रीकृष्ण दूसरे शब्दों में कहते हैं कि वह प्रभु न करता है, न कराता है। सद्गुरु, भगवान, प्रभु, स्वरूपस्थ महापुरुष, युक्त इत्यादि एक-दूसरे के पर्याय हैं। अलग से कोई भगवान कुछ करने नहीं आता। वह जब करता है, तो इन्हीं स्वरूपस्थ इष्ट के माध्यम से कराता है। महापुरुष के लिए शरीर एक मकान मात्र है। अतः परमात्मा का करना और महापुरुष का करना एक ही बात है; क्योंकि वह उनके द्वारा है। वस्तुतः वह पुरुष करते हुए

भी कुछ नहीं करता। इसी पर अगला श्लोक देखें-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

वह प्रभु न तो भूत-प्राणियों के कर्त्तापन को, न कर्मों को और न कर्मफलों का संयोग ही बैठाता है, बल्कि स्वभाव में स्थित प्रकृति के दबाव के अनुसार ही सभी बरतते हैं। जैसी जिसकी प्रकृति -सात्त्विक, राजसी अथवा तामसी है, उसी स्तर से वह बरतता है। प्रकृति तो लम्बी-चौड़ी है लेकिन आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है, जितना आपका स्वभाव विकृत अथवा विकसित है।

प्रायः लोग कहते हैं कि करने-करानेवाले तो भगवान हैं, हम तो यन्त्रमात्र हैं। हमसे वे भला करावें अथवा बुरा। किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि न वह प्रभु स्वयं करता है, न कराता है और न वह जुगाड़ ही बैठाता है। लोग अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के अनुरूप बरतते हैं। स्वतः कार्य करते हैं। वे अपने आदत से मजबूर होकर करते हैं, भगवान नहीं करते। तब लोग कहते क्यों हैं कि भगवान करते हैं? इस पर योगेश्वर बताते हैं-

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

जिसे अभी प्रभु कहा, उसी को यहाँ विभु कहा गया है; क्योंकि वह सम्पूर्ण वैभव से संयुक्त है। प्रभुता एवं वैभव से संयुक्त वह परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के पुण्यकर्मों को ही ग्रहण करता है; फिर भी लोग कहते क्यों हैं? इसलिये कि अज्ञान द्वारा ज्ञान ढँका हुआ है। उन्हें अभी साक्षात्कारसहित ज्ञान तो हुआ नहीं। वे अभी जन्तु हैं। मोहवश वे कुछ भी कह सकते हैं। ज्ञान से क्या होता है? इसे स्पष्ट करते हैं-

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जिसके अन्तःकरण का वह अज्ञान (जिसने ज्ञान को ढँक रखा था), आत्म-साक्षात्कार द्वारा नष्ट हो गया है और इस प्रकार जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस परमतत्त्व परमात्मा को प्रकाशित करता है। तो क्या परमात्मा किसी अन्धकार का नाम है? नहीं, वह तो

'स्वयं प्रकाश रूप दिन राती।'- स्वयं प्रकाश रूप है। है तो, किन्तु हमारे उपभोग के लिये तो नहीं है, दिखायी तो नहीं देता? जब ज्ञान द्वारा अज्ञान का आवरण हट जाता है, तो उसका वह ज्ञान सूर्य के सदृश परमात्मा को अपने में प्रवाहित कर लेता है। फिर उस पुरुष के लिए कहीं अन्धकार नहीं रह जाता। उस ज्ञान का स्वरूप क्या है?-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

जब उस परमतत्त्व परमात्मा के अनुरूप बुद्धि हो, तत्त्व के अनुरूप प्रवाहित मन हो, परमतत्त्व परमात्मा में एकीभाव से उसकी रहनी हो और उसी के परायण हो, इसी का नाम ज्ञान है। ज्ञान कोई बकवास या बहस नहीं है। इस ज्ञान द्वारा पापरहित हुआ पुरुष पुनरागमनरहित परमगति को प्राप्त होता है। परमगति को प्राप्त, पूर्ण जानकारी से युक्त पुरुष ही पण्डित कहलाते हैं। आगे देखें-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

ज्ञान के द्वारा जिनका पाप शमन हो चुका है, जो 'अपुनरावर्ती परमगति' को प्राप्त हैं, ऐसे ज्ञानीजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डाल में, गाय और कुत्ते में तथा हाथी में समान दृष्टिवाले होते हैं। उनकी दृष्टि में विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण न तो कोई विशेषता रखता है और न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म और न हाथी विशालता ही रखता है। ऐसे पण्डित, ज्ञाताजन समदर्शी और समवर्ती होते हैं। उनकी दृष्टि चमड़ी पर नहीं रहती, बल्कि आत्मा पर पड़ती है। अन्तर केवल इतना है, विद्या-विनयसम्पन्न स्वरूप के समीप है और शेष कुछ पीछे हैं। कोई एक मंजिल आगे है, तो कोई पिछले पड़ाव पर। शरीर तो वस्त्र है। उनकी दृष्टि वस्त्र को महत्त्व नहीं देती अपितु उनके हृदय में स्थित आत्मा पर पड़ती है इसलिए वे कोई भेद नहीं रखते।

श्रीकृष्ण ने पर्याप्त गो-सेवा की थी। उन्हें गाय के प्रति गौरवपूर्ण शब्द कहना चाहिये था; किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। श्रीकृष्ण ने गाय को धर्म में कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने केवल इतना माना कि अन्य

जीवात्माओं की तरह उसमें भी आत्मा है। गाय का आर्थिक महत्त्व जो भी हो, उसका धार्मिक वैशिष्ट्य परवर्ती लोगों की देन है। श्रीकृष्ण ने पीछे बताया कि अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। दिखावटी शोभायुक्त वाणी में वे उसे व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है, उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। वे कुछ पाते नहीं, नष्ट हो जाते हैं। जबकि निष्काम कर्मयोग में अर्जुन! निर्धारित क्रिया एक ही है - यज्ञ की प्रक्रिया 'आराधना'। गाय, कुत्ते, हाथी, पीपल, नदी का धार्मिक महत्त्व इन अनन्त शाखावालों की देन है। यदि इनका कोई धार्मिक महत्त्व होता तो श्रीकृष्ण अवश्य कहते। हाँ, मन्दिर, मस्जिद इत्यादि पूजा के स्थल आरंभिक काल में अवश्य हैं। वहाँ प्रेरणादायक सामूहिक उपदेश हैं तो उनकी उपयोगिता अवश्य है, वे धर्मोपदेश केन्द्र हैं।

प्रस्तुत श्लोक में दो पण्डितों की चर्चा है। एक पण्डित तो वह है, जो पूर्ण ज्ञाता है और दूसरा वह, जो विद्या-विनयसम्पन्न है। वे दो कैसे? वस्तुतः प्रत्येक श्रेणी की दो सीमाएँ होती हैं- एक तो अधिकतम सीमा पराकाष्ठा और दूसरी प्रवेशिका अथवा निम्नतम सीमा। उदाहरण के लिये भक्ति की निम्नतम सीमा वह है जहाँ से भक्ति आरम्भ की जाती है; विवेक, वैराग्य और लगन के साथ जब आराधना करते हैं और अधिकतम सीमा वह है, जहाँ भक्ति अपना परिणाम देने की स्थिति में होती है। ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण श्रेणी है। जब ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली क्षमताएँ आती हैं, उस समय विद्या होती है, विनय होता है। मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, अनुभवी सूत्रपात का संचार, धारावाही चिन्तन, ध्यान और समाधि इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली सारी योग्यताएँ उसके अन्तराल में स्वाभाविक कार्यरत रहती हैं। यह ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा है। उच्चतम सीमा तब आती है, जब क्रमशः उन्नत होते-होते वह ब्रह्म का दिग्दर्शन करके उसमें विलय पा जाता है। जिसे जानना था, जान लिया। वह पूर्णज्ञाता है। अपुनरावृत्तिवाला ऐसा महापुरुष उस विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, कुत्ता, हाथी और गाय सब पर समान दृष्टिवाला होता है; क्योंकि उसकी दृष्टि हृदयस्थित आत्म-स्वरूप पर पड़ती है। ऐसे महापुरुष को परमगति में क्या मिला है और कैसे? इस पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, जिनका मन समत्व में स्थित है। मन के समत्व का संसार जीतने से क्या सम्बन्ध? संसार मिट ही गया, तो वह पुरुष रहा कहाँ? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**- वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उसका मन भी निर्दोष और सम स्थितिवाला हो गया। **'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'**- इसलिये वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी का नाम अपुनरावर्ती परमगति है। यह कब मिलता है? जब संसाररूपी शत्रु जीतने में आ जाय। संसार कब जीतने में आता है? जब मन का निरोध हो जाय, समत्व में प्रवेश पा जाय (क्योंकि मन का प्रसार ही जगत् है)। जब वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है तब ब्रह्मविद् का लक्षण क्या है? उसकी रहनी स्पष्ट करते हैं-

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

उसका कोई प्रिय-अप्रिय होता नहीं। इसलिए जिसे लोग प्रिय समझते हैं, उसे पाकर वह हर्षित नहीं होता और जिसे लोग अप्रिय समझते हैं (जैसा धर्मावलम्बी चिह्न लगाते हैं), उसे पाकर वह उद्वेगवान् नहीं होता है। ऐसा स्थिरबुद्धि, **'असंमूढ'**- संशयरहित, **'ब्रह्मविद्'**- ब्रह्म से संयुक्त, ब्रह्मवेत्ता **'ब्रह्मणि स्थितः'**- परात्पर ब्रह्म में सदैव स्थित है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

बाहर संसार के विषय-भोगों में अनासक्त पुरुष अन्तरात्मा में स्थित जो सुख है, उस सुख को प्राप्त होता है। वह पुरुष **'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा'**- परब्रह्म परमात्मा के साथ मिलन से युक्त आत्मावाला है इसलिए अक्षय आनन्द का अनुभव करता है, जिस आनन्द का कभी क्षय नहीं होता। इस आनन्द का उपभोग कौन कर सकता है? जो बाहर के विषय-भोगों में अनासक्त है। तो क्या भोग बाधक हैं? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

केवल त्वचा ही नहीं, सभी इन्द्रियाँ स्पर्श करती हैं। देखना आँख का स्पर्श है, सुनना कान का स्पर्श है। इसी प्रकार इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सभी भोग यद्यपि भोगने में प्रिय प्रतीत होते हैं; किन्तु निःसन्देह वे सब **'दुःखयोनयः'**– दुःखद योनियों के ही कारण हैं। ये भोग ही योनियों के कारण हैं। इतना ही नहीं, वे भोग पैदा होने और मिटनेवाले हैं, नाशवान् हैं। इसलिए कौन्तेय! विवेकी पुरुष उनमें नहीं फँसते। इन्द्रियों के इन स्पर्शों में रहता क्या है? काम और क्रोध, राग और द्वेष। इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं–

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

इसलिये जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में (मिटा देने में) सक्षम है, वह नर (न रमन करनेवाला) है। वही इस लोक में योग से युक्त है और वही सुखी है। जिसके पीछे दुःख नहीं है, उस सुख में अर्थात् परमात्मा में स्थितिवाला है। जीते-जी ही इसकी प्राप्ति का विधान है, मरने पर नहीं। सन्त कबीर ने इसी को स्पष्ट किया – **'अवधू! जीवत में कर आसा।'** तो क्या मरने के बाद मुक्ति नहीं होती? वे कहते हैं – **'मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।'** यही योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन है कि शरीर रहते, मरने से पहले ही जो काम-क्रोध के वेग को मिटा देने में सक्षम हो गया, वही पुरुष इस लोक में योगी है, वही सुखी है। काम, क्रोध, बाह्य स्पर्श ही शत्रु हैं। इन्हें आप जीतें। इसी पुरुष के लक्षण पुनः बता रहे हैं–

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

जो व्यक्ति अन्तरात्मा में ही सुखवाला, **'अन्तरारामः'**– अन्तरात्मा में ही आरामवाला तथा जो अन्तरात्मा में ही प्रकाशवाला (साक्षात्कारवाला) है, वही योगी **'ब्रह्मभूतः'**– ब्रह्म के साथ एक होकर **'ब्रह्मनिर्वाणम्'**– वाणी से परे ब्रह्म, शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त होता है। अर्थात् पहले विकारों (काम-क्रोध) का अन्त, फिर दर्शन, फिर प्रवेश। आगे देखें–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

परमात्मा का साक्षात्कार करके जिनका पाप नष्ट हो गया है, जिनकी दुविधाएँ नष्ट हो गयी हैं, सम्पूर्ण प्राणियों के हित में जो लगे हुए हैं (प्राप्ति वाले ही ऐसा कर सकते हैं। जो स्वयं गड्ढे में पड़ा है, वह दूसरों को क्या बाहर निकालेगा? इसीलिये करुणा महापुरुष का स्वाभाविक गुण हो जाता है) तथा **'यतात्मानः'**– जितेन्द्रिय ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। उसी महापुरुष की स्थिति पर पुनः प्रकाश डालते हैं–

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

काम और क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म ही प्राप्त है। बार-बार योगेश्वर श्रीकृष्ण उस पुरुष की रहनी पर बल दे रहे हैं, जिससे प्रेरणा मिले। प्रश्न लगभग पूर्ण हुआ। अब वे पुनः बल देते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त करने का आवश्यक अंग 'श्वास-प्रश्वास का चिन्तन' है। यज्ञ की प्रक्रिया में प्राण को अपान में हवन, अपान को प्राण में हवन, प्राण और अपान दोनों की गति का निरोध उन्होंने बताया था। उसी को समझा रहे हैं–

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अर्जुन! बाहर के विषयों, दृश्यों का चिन्तन न करते हुए, उन्हें त्यागकर, नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, 'भ्रुवोः अन्तरे' का ऐसा अर्थ नहीं कि आँखों के बीच या भौंह के बीच कहीं देखने की भावना से दृष्टि लगायें। भृकुटी के बीच का शुद्ध अर्थ इतना ही है कि सीधे बैठने पर दृष्टि भृकुटी के ठीक मध्य से सीधे आगे पड़े। दाहिने-बायें, इधर-उधर चकपक न देखें। नाक की डाँड़ी पर सीधी दृष्टि रखते हुए (कहीं नाक ही न देखने लगें), नासिका के अन्दर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके अर्थात् दृष्टि तो वहाँ स्थिर करें और सुरत को श्वास में लगा दें कि कब श्वास भीतर गयी? कितना रुकी? (लगभग आधा सेकण्ड रुकती है, प्रयास करके न रोकें।) कब श्वास बाहर निकली? कितनी देर तक बाहर रही?

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्वास में उठनेवाली नामध्वनि सुनायी पड़ती रहेगी। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास पर जब सुरत टिक जायेगी तो धीरे-धीरे श्वास अचल, स्थिर ठहर जायेगी, सम हो जायेगी। न भीतर से संकल्प उठेंगे और न बाह्य संकल्प अन्दर टकराव कर पायेंगे। बाहर के भोगों का चिन्तन तो बाहर ही त्याग दिया गया था, भीतर भी संकल्प नहीं जाग्रत होंगे। सुरत एकदम खड़ी हो जाती है, तैलधारावत्। तेल की धारा पानी की तरह टप-टप नहीं गिरती, जब तक गिरेगी धारा ही गिरेगी। इसी प्रकार प्राण और अपान की गति एकदम सम, स्थिर करके इन्द्रियों, मन और बुद्धि को जिसने जीत लिया है; इच्छा, भय और क्रोध से रहित, मननशीलता की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ मोक्षपरायण मुनि सदा 'मुक्त' ही है। मुक्त होकर वह कहाँ जाता है? क्या पाता है? इस पर कहते हैं-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

वह मुक्त पुरुष मुझे यज्ञ और तपों का भोगनेवाला सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियों का स्वार्थरहित हितैषी, ऐसा साक्षात् जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि उस पुरुष के श्वास-प्रश्वास के यज्ञ और तप का भोक्ता मैं हूँ। यज्ञ और तप अन्त में जिसमें विलय होते हैं, वह मैं हूँ। वह मुझे प्राप्त होता है। यज्ञ के अन्त में जिसका नाम शान्ति है, वह मेरा ही स्वरूप है। वह मुक्त पुरुष मुझे जानता है और जानते ही मुझे प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम शान्ति है। जैसे मैं ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ, वैसे ही वह भी है।

निष्कर्ष-

इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने प्रश्न किया था कि, कभी तो आप निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं और कभी आप संन्यास-मार्ग से कर्म करने की प्रशंसा करते हैं अतः दोनों में एक को, जो आपका सुनिश्चित किया हो, परमकल्याणकारी हो, उसे कहिए। श्रीकृष्ण ने बताया - अर्जुन! परमकल्याण तो दोनों में है। दोनों में वही निर्धारित यज्ञ की क्रिया ही की जाती है, फिर भी निष्काम कर्मयोग विशेष है। बिना इसे किये संन्यास (शुभाशुभ कर्मों का अन्त) नहीं होता। संन्यास मार्ग नहीं, मंजिल का नाम

है। योगयुक्त ही संन्यासी है। योगयुक्त के लक्षण बताये कि वही प्रभु है। वह न करता है, न कुछ कराता है; बल्कि स्वभाव में प्रकृति के दबाव के अनुरूप लोग व्यस्त हैं। जो साक्षात् मुझे जान लेता है वही ज्ञाता है, वही पण्डित है। यज्ञ के परिणाम में लोग मुझे जानते हैं। श्वास-प्रश्वास का जप और यज्ञ-तप जिसमें विलय होते हैं, मैं ही हूँ। यज्ञ के परिणामस्वरूप मेरे को जानकर वे जिस शान्ति को प्राप्त होते हैं, वह भी मैं ही हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण-जैसा, महापुरुष-जैसा स्वरूप उस प्राप्तिवाले को भी मिलता है। वह भी ईश्वरों का ईश्वर, आत्मा का भी आत्मस्वरूपमय हो जाता है, उस परमात्मा के साथ एकीभाव पा लेता है (एक होने में जन्म चाहे जितने लगें।)। इस अध्याय में स्पष्ट किया कि यज्ञ-तपों का भोक्ता, महापुरुषों के भी अन्दर रहनेवाली शक्ति महेश्वर है, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'यज्ञभोक्ता महापुरुष महेश्वर' नामक पाँचवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थ महेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।